

धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्

—प्रो. (डॉ.) वीरसागर जैन

“धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्म बुधाश्चिन्वते ।
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः॥
धर्मान्नास्त्यपरं सुहृत् भवभृतां धर्मस्य मूलं दया ।
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म मां पालय ॥”

यह श्लोक आज से लगभग 1500 वर्ष पूर्व आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने ‘दशभक्त्यादिसंग्रह’ में वीरभक्ति में लिखा है। इस श्लोक को मैं मंगलाचरण के रूप में बहुत बोलता रहता हूँ। यह श्लोक मुझे अत्यंत सारगर्भित प्रतीत होता है, क्योंकि इसके अनेक कारण हैं। यथा—

1. इस श्लोक में किसी भी विशेष देवी, देवता या तीर्थंकर आदि को नमस्कार नहीं किया गया है, जैसा कि प्रायः मंगलाचरणों में किया जाता है, अपितु धर्म को नमस्कार किया है।
2. धर्म में भी किसी विशेष धर्म हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन आदि को नमस्कार नहीं किया गया है, अपितु उस सामान्य धर्म को किया गया है जो ऐसे विशेषणों से रहित है, आकाश के समान असीम है, उदार है।
3. यह धर्म बाह्य आडम्बरों से भी दूर है, किसी तिलक-छापे या वेशभूषा में भी नहीं रहता है। यह धर्म किसी स्थान विशेष के भी अधीन नहीं है। मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा या किसी तीर्थविशेष पर ही नहीं रहता है। अपितु यह तो अपने ही विशुद्ध मन में निवास करता है— धर्मो वसेन्मनसि.. / धर्मो के धर्म सदा मन में..
4. यह धर्म अन्धश्रद्धा रूप भी नहीं है, अपितु वैज्ञानिक चेतना स्वरूप है, वस्तु के स्वभावस्वरूप है— वस्तु सहावो धम्मो, अहिंसा, संयम, तप स्वरूप है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य स्वरूप है, उत्तम क्षमादि स्वरूप है।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 476

5. यह धर्म अत्यन्त सरल भी है। देखो मेरा अन्य लेख— ‘अत्यन्त सरल है जैनधर्म’। यह धर्म उधारी का भी नहीं है कि आज करोगे तो कल फल देगा। यह तत्काल नकद फल देता है। जो बाद में फल दे उसे तो कर्म कहते हैं, धर्म नहीं।
6. यह धर्म प्राणिमात्र का हितकारक है। यह कभी किसी जीव को दुख नहीं देता। इसे पशु-पक्षी भी यथाशक्ति धारण कर सकते हैं। यह हमें विरोधी से भी प्रेम करना सिखाता है। यह धर्म झगड़े नहीं कराता, अपितु सारे झगड़े मिटाता है।
7. उक्त श्लोक में एक धर्म पर ही सारे षट्कारक लगाए गये हैं और उसके द्वारा यह कहने का प्रयास किया गया है कि एक धर्म ही जीव का सर्वस्व है, सब कुछ है; कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण सब है। यदि जीवन में यह धर्म नहीं है तो समझो कुछ नहीं है, चाहे अन्य सब कितना ही कुछ हो। तथा यदि यह धर्म है तो समझो सब कुछ है, चाहे अन्य कुछ भी न हो।
8. यह श्लोक धर्म का सच्चा स्वरूप जानने के लिए भी प्रेरित करता है। लोग धर्म के गीत तो बहुत गाते हैं, पर धर्म का सच्चा स्वरूप नहीं जानते, अधिकांश लोग धर्म के नाम पर अधर्म का ही सेवन करते हैं। कहा भी गया है—

धर्मस्य शब्दमात्रेण, प्रायेण प्राणिनोऽधमाः।

अधर्ममेव सेवन्ते, विचारजडचेतसा ॥—पद्मपुराण

अथवा—

धर्म धर्म सब कोई कहे, धर्म न जाने कोय ।

जीवतत्त्व जाने बिना, धर्म कहाँ से होय ॥

9. धर्म और धर्मान्धता में बड़ा भारी अंतर होता है, जिसे समझना बहुत आवश्यक है। अधिकांश लोग धर्मान्ध तो बन जाते हैं, पर धर्मात्मा नहीं हो पाते। सच्चा धर्मात्मा बनने के लिए समीचीन धर्म को परीक्षा करके अंगीकार करना होता है।

10. लोक एवं शास्त्र दोनों में ही धर्म की अनेकानेक परिभाषाएँ मिलती हैं, पर उनमें से अधिकांश परिभाषाएँ व्यावहारिक हैं अथवा कारण में कार्य का उपचार करके कही गई हैं। जैसे कि एक ग्रन्थ (स्थानांगसूत्र) में निम्नलिखित दश धर्म कहे गये हैं— ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, कुलधर्म, पाखंड, गण, संघ, श्रुत, चरित्र, अस्तिकाय। इसी प्रकार की बातें अन्यत्र भी बहुत मिलती हैं— ‘कर्तव्यमेव धर्मः’ इत्यादि। तथा लोग धर्म का एकदम व्यावहारिक अर्थ बतानेवाले भी बहुत अधिक हैं। उनके अनुसार दुकान पर जाना, बच्चे पालना आदि भी धर्म है।
11. परन्तु धर्म का निश्चय लक्षण तो शुद्धोपयोग ही है, जैसा कि पंचाध्यायी 2/763 में स्पष्ट कहा है— ‘धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्’ अर्थात् सच्चा धर्म तो शुद्धोपयोग ही है। शुद्धोपयोग को आत्मानुभूति या स्वानुभव भी कहते हैं, जिसे आचार्य अमृतचंद्र ने समयसार-कलश 23 में कैसे भी मरकर भी करने की प्रेरणा दी है। यथा—

**अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती बभूव।**

अर्थात् कैसे भी मरकर भी तत्त्व के कौतूहली बनो और इस शरीर के पड़ौसी बनकर अपने आत्मा का अनुभव करो।

इस प्रकार यह भलीभाँति स्पष्ट है कि ‘धर्म’ शब्द का प्रयोग यद्यपि अनेक अर्थों में होता है, परन्तु उसका पारमार्थिक अर्थ तो एक शुद्धोपयोग ही है, आत्मानुभूति ही है, अन्य कुछ नहीं। अतः जो इस शुद्धोपयोग या आत्मानुभूति को करे वही सच्चा धर्मात्मा है, अन्य कोई नहीं।

धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् : एक कथानक

‘धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्’ (पंचाध्यायी 2/763) —धर्म की इस परिभाषा को ठीक से समझने के लिए एक महत्त्वपूर्ण कहानी है—

एक सैनिक था। वह छुट्टी बिताने घर आया था। वह राजस्थान के रेतीले रास्ते पर पैदल चल रहा था, क्योंकि उसके गाँव तक जाने का कोई साधन नहीं था, पैदल ही जाना होता था।

किन्तु इतने में ही एक ऊँटगाड़ी आ गई, जो उसके गाँव की तरफ ही जा रही थी। सैनिक ने गाड़ी वाले से अनुरोध किया— भैया, मुझे भी बिठा लो न!

गाड़ीवान बोला— बिठा तो लेता भाई, पर देखते नहीं हो, गाड़ी ऊपर तक लबालब भरी है, बैठने की कहीं कोई जगह ही नहीं है।

सैनिक बोला— मैं सब बैठ जाऊँगा, तुम तो हाँ करो बस, ऊपर चढ़कर बैठ जाऊँगा।

गाड़ीवान— बैठ जाओ, पर नाड़ी को कसकर पकड़ लेना, नहीं तो गिर जाओगे, फिर मुझे मत कहना, रास्ता भी ऊबड़-खाबड़ है।

सैनिक उछलकर गाड़ी में ऊपर जाकर बैठ गया, किन्तु थोड़ी दूर चलते ही नीचे गिर गया। गाड़ीवान ने जल्दी से गाड़ी रोककर उसे उठाया और कहा— अरे, कैसे गिर गये? कहा था न कि कसकर नाड़ी पकड़ लेना, नहीं तो गिर जाओगे।

‘नाड़ी तो मैंने अभी तक भी कसकर पकड़ रखी है, देख लो।’ —सैनिक ने अपने पायजामे की नाड़ी दिखाते हुए कहा, जो उसने अभी भी पकड़ रखी थी।

‘अरे भले आदमी, ये पजामे की नाड़ी नहीं, गाड़ी की वो नाड़ी पकड़नी थी जिससे सामान बँधा हुआ है। वो पकड़ते तो तुम कभी नहीं गिरते।’

बस यही हाल हमारा है। हमने भी ‘धर्म’ के नाम पर कुछ और ही पकड़ रखा है। दुनिया में ‘धर्म’ के नाम पर बहुत कुछ चलता है, शब्दकोशों में भी ‘धर्म’ शब्द के अनेक अर्थ कर रखे हैं, परन्तु ‘धर्म’ शब्द का असली अर्थ तो शुद्धोपयोग ही है, यदि हम उसे पकड़ें तो कभी भी संसार-सागर में न गिरें।

